पीएच. डी. उपाधि हेतु शोध-पूर्व-प्रस्तुति

(Pre-Submission Seminar Paper)

हिंदी उपन्यासः आदिवासी संघर्ष और पारिस्थितिकीय संकट
(1990-2016)

HINDI UPANYAS: AADIWASI SANGHARSH AUR PARISTHITIKIYA SANKAT
(1990-2016)

Session: 2018 - 2023

शोध-निर्देशक

19/07/2023

Dr. Munni Gupta
Assistant Professor
Department of Hindi
Presidency University, Kol-73

डॉ. मुन्नी गुप्ता

शोधार्थी

Nidhi Pandey
19/07/2023

निधि पांडेय

PRESIDENCY UNIVERSITY
KOLKATA

हिन्दी विभाग

प्रेसीडेंसी विश्वविद्यालय, कोलकाता

हिंदी उपन्यास : आदिवासी संघर्ष और पारिस्थितिकीय संकट

प्रथम अध्याय:

भारतीय आदिवासी समाज: एक परिचय

1)आदिवासी : अवधारणा, स्वरुप और इतिहास
2) आदिवासी समाज-संरचना के घटक
3) आदिवासी समाज की सांस्कृतिक संरचना के तत्त्व
4) आदिवासी समाज : भूमंडलीकरण और पारिस्थितिकीय संकट

दूसरा अध्याय:

आदिवासी समाज और हिंदी उपन्यासों की विकास यात्रा

1) बीसवीं शताब्दी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज
2) इक्कीसवीं शताब्दी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज
3) आदिवासी समाज एवं हिंदी उपन्यास के बीच अंतर्संबंध

तीसरा अध्याय:

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी संघर्ष

1) राजनीतिक सन्दर्भ
2) सामाजिक सन्दर्भ
3) आर्थिक सन्दर्भ

चौथा अध्याय:

आदिवासी समाज, पारिस्थितिकीय संकट और हिंदी उपन्यास

1) पारिस्थितिकीय संकट : अर्थ एवं स्वरूप
2) पारिस्थितिकीय संकट : संघर्ष एवं चुनौतियां

3) हिंदी उपन्यासों में पारिस्थितिकीय संकट एवं आदिवासी संघर्ष

पाँचवाँ अध्याय:

आदिवासी समाज , हिंदी उपन्यास और उनका शिल्प-विधान

1) आदिवासी बोली और भाषा

2) आदिवासी शब्द संपदा (उपमा, उपमान, बिंब, वाक्य, वाक्य-विन्यास आदि)

3) आदिवासी लेखन का बाह्य रूप एवं बाह्य संरचना

उपसंहार

आधार ग्रँथ

संदर्भ ग्रंथ

शोध- सारांश

सन 1950 के दशक में विश्व के अधिकांश देशों में औपनिवेशिक शासन का खात्मा हो चुका था। इसी के साथ मानव मात्र की स्वतंत्रता का उदघोष भी शुरू हुआ। हर आदमी की स्वतंत्रता और उसके जीवन यापन के लिये न्यूनतम साधनों पर बहस चलने लगी। सम्मानपूर्वक जीवन जीने का अधिकार और इसके लिये साधनों को सुनिश्चित करना सरकारों का कर्तव्य माना गया। प्राकृतिक संसाधनों-जल, जंगल और जमीन पर हर व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार समझा गया। किन्तु 1990 के दौर में शुरू हुए सुधारों के मॉडल ने जिसे सामान्यतः हम एल.पी.जी मॉडल अर्थात उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के नाम से जानते हैं, ने आम जनता के अधिकारों का फिर से न्यूनीकरण शुरू कर दिया। इस नीति के तहत विकसित देशों की सरकारों और उद्योगपतियों ने विकासशील देशों (जिन्हें हम तीसरी दुनिया के देश भी कहते हैं और जिनमें भारत सहित अनेक देश शामिल हैं) की सरकारों के साथ मिलकर 'मनुष्य और उसकी सभ्यता के विकास के लिये, उसकी आर्थिक प्रगति के लिये योजनाएँ बनाईं। इन योजनाओं में जिन तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया, वे थीं- जल, जंगल और ज़मीन। कृषि से जुड़ी जमीन को कैसे उत्पादन में औऱ अधिक सहयोगी बनाया जाए, कैसे उनका उपयोग उद्योग- धंधों की स्थापना के लिये हो तथा नदियाँ- नालें ,पहाड़ और जंगल जो भी हमारे प्राकृतिक संसाधन हैं, उनको किस प्रकार 'विकास' का माध्यम बनाया जाए। आर्थिक संकट के दौर से गुजर

रहे हमारे देश को भी इस योजना से काफी उम्मीदें थीं। ये उम्मीदें पूरी हुई और देश आर्थिक संकट से उबर आया लेकिन यहीं से शुरुआत हुई एक नई समस्या की। नव उदारवादी व्यवस्था की आड़ में जल,जंगल और जमीन से जुड़ी आम जनता के अधिकारों के हनन की, जिसका सबसे अधिक खामियाजा जिस समुदाय को भुगतना पड़ा वह है हमारा - 'आदिवासी समाज'। आदिवासी यानी मूल निवासी। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिये 'जनजाति' पद का उपयोग किया गया है। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8.6% भाग आदिवासियों का है, जो मूल रूप से जंगलों में बसते हैं। भारतीय गणराज्य में अनुसूचित जनजाति की अधिकांश आबादी पूर्वी, मध्य और पश्चिमी पट्टी में संकेंद्रित है, जो नौ राज्यों - ओडिशा, मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़, झारखंड, महाराष्ट्र, गुजरात राजस्थान, आंध्रप्रदेश और पश्चिम बंगाल तक विस्तृत हैं। उतर-पूर्वी क्षेत्र में लगभग 12%, दक्षिणी क्षेत्र में 5% और उत्तरी राज्यों में लगभग 3% जनजातीय आबादी निवास करती है। यहां इस समुदाय को मूल रूप में अपनी भाषा, संस्कृति, आचरण और आस्थाओं को धारण किये देखा जा सकता है। जैसा कि अमूमन माना जाता है इंसानों की मूल नस्ल आदिवासी है। जाहिर है, अगर सभ्यता और संस्कृति के विकास- क्रम को पहचानना है तो आदिवासी अस्मिता और उनकी पहचान का अध्ययन करना जरूरी है। लेकिन विडंबना यह है कि आज दुनिया की सातवीं सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था का दर्जा तो भारत ने हासिल कर लिया है लेकिन अब भी एक बड़ा तबका हाशिए पर ही है। इसका श्रेय बहुत कुछ आजाद भारत द्वारा नब्बे के दशक में अपनाए विकास

मॉडल को ही जाता है। विकास और बुनियादी सुविधा प्रदान करने के नाम पर मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं से ही खिलवाड़ होने लगा। वैश्वीकरण के कारण उन सभी के लिये खिड़की-दरवाजे खोल दिये गए, जो अमेरिका में बैठे-बैठे बैंक के जरिये भारत मे ज़मीन खरीदना चाहते हैं, औद्योगिक संस्कृति के विकास के लिये विकासशील देशों की प्राकृतिक संपदा का दोहन करना चाहते हैं। न केवल भारत में बल्कि ब्राजील, कोलम्बिया, यूरोप के कई विकासशील देशों को देखें तो पाएंगे कि यह भौगोलिक बीमारी है, जिसमे हर कोई जल, जंगल और जमीन को जितना लूट सकता है लूटने की कोशिश में लगा है। सन 1990 के बाद से विकास के नाम पर जल, जंगल और ज़मीन का जमकर दोहन हो रहा है। किन्तु इस विकास मॉडल में आदिवासी जनता के इच्छाओं-आकांक्षाओं को भुला दिया गया है। प्रकृति को अपना मानकर बिना किसी लालच के जीने वाले आदिवासियों को बीते सालों में उत्खनन और वाइल्ड लाइफ प्रोटेक्शन के नाम पर असहाय बना दिया गया है। इस विकास की अंधी दौड़ ने न केवल उन्हें एक जगह से दूसरी जगह विस्थापित होने के लिये बार-बार मजबूर किया है बल्कि हमारे पर्यावरण और प्रकृति को भी बेतहाशा नुकसान पहुँचाया है, जिसको यह समुदाय सदियों से पूजता आ रहा है। जैसे-जैसे विकास की रेल आगे बढ़ती जा रही है पर्यावरण का संकट भी गहराता जा रहा है। नदी, पहाड़ों ,जंगलों को पहुंच रहे नुकसान का हर्जाना आखिरकार इस कमज़ोर तबके और हाशिये की जनता को ही भरना पड़ रहा है क्योंकि प्राकृतिक आपदाओं का सबसे आसान शिकार वे ही बनते हैं। प्रस्तावित शोध के केंद्र में जल,

जंगल और ज़मीन से जुड़ी आदिवासी जनता का यही जीवन और उससे जुड़ी समस्याएं एवं संघर्ष हैं जिनके लिये अध्ययन के लिये समकालीन हिंदी उपन्यासों को माध्यम बनाया गया है.

अध्याय 1 : भारतीय आदिवासी समाज : एक परिचय

यह अध्याय भारतीय आदिवासी समाज का एक विवरणात्मक परिचय प्रस्तुत करता है।इस अध्याय के अंतर्गत चार उपअध्याय हैं जिनके माध्यम से आदिवासी समाज की अवधारणा, स्वरूप, उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचना को समझने का प्रयास किया गया है।

साथ ही उनकी मूल जड़े और मूल सांस्कृतिक पृष्टभूमि क्या रही है तथा भूमण्डलीकरण ने उन्हें किस सीमा तक प्रभावित किया है इसका विवेचन - विश्लेषण किया जाएगा. इसके अतिरिक्त इस अध्याय के अंतर्गत आदिवासी आंदोलनों एवं भारत के संविधान में उन्हें प्राप्त स्थान और उसके प्रभाव का भी अवलोकन होगा.

इस अध्याय के अंतर्गत **चार उप अध्याय** हैं जो इस प्रकार हैं :

- आदिवासी: अवधारणा , स्वरूप और इतिहास
- आदिवासी समाज संरचना के घटक
- आदिवासी समाज की सांस्कृतिक संरचना के घटक
- आदिवासी समाज : भूमंडलीकरण और पारिस्थितिकीय संकट

इस अध्याय में 'आदिवासी' शब्द को पारिभाषित किया गया है . साथ ही उसकी अवधारण तथा इतिहास को विश्लेषित किया गया है . इस संबंध में मानवशास्त्रियों सहित आदिवासी एवं गैर- आदिवासी रचनाकारों की दृष्टि का भी यथोचित मूल्यांकन किया गया है. इसके अतिरिक्त समकालीन हिंदी साहित्य में 'आदिवासी-विमर्श' के महत्व को रेखांकित किया गया है. इसके अंतर्गत 'आदिवासी विमर्श' क्यों ? तथा हिंदी साहित्य में इसकी रचना-प्रक्रिया से संबधित विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करने की कोशिश की गई है.

विभिन्न सभ्यताओं के बनने- बिगड़ने के चरण में और नई संस्कृतियों के विकास क्रम में जो पड़ाव आए हैं उनमें आदिवासियों की स्थिति में क्या बदलाव आए तथा अब तक आदिवासी समाज ने अपने अस्तित्व को बचाने के लिये नई बन रही सामाजिक संरचना और राजनीतिक व्यवस्था से किस तरह संघर्ष किया है इसका विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया गया है.

इसके अतिरिक्त आदिवासी संस्कृतियों में मुख्य रूप से उनके आदिपर्व, उनकी भाषाएँ, साथ ही उनके धार्मिक विश्वासों, जिन पर बहुत बड़े पैमाने पर बाहरी लोगों ने हमला किया है, और इसे एक धर्म, एक धार्मिक विश्वास (जैसे- हिंदुत्व) के अंदर लाने की भी चेष्टा की है, इस पक्ष पर बागी प्रकाश डाला गया है. साथ ही उनकी जीवन शैली की नियमावली को बदलते भारत के भीतर भारत की सर्वाधिक प्रमुख भाषा हिंदी में किस सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया गया है इसकी पड़ताल की गयी है. रमेश चन्द्र मीणा की पुस्तक 'आदिवासी विमर्श' में आदिवासी संस्कृति का रूप से उभर कर सामने आया है. इसी संबंध में आदिवासी समाज और

संस्कृति पर प्रश्न करते हुऐ डॉ श्यामचरण दुबे कहते हैं, " आदिवासी सांस्कृतिक परंपरा सतत विकसित मूल्यबोध है. पीढ़ी दर पीढी इसमें कुछ नया जुड़ता रहता है." किंतु क्या हर नई जुड़ी चीज़ आदिवासी समाज के लिये फायदेमंद साबित हई है? ' भू मंडलीकरण' एक ऐसी ही नई जुड़ी बात है जिसने आदिवासियों को बहुत ही प्रतिकूल रूप में प्रभावित किया है. आधुनिक समय की यह संकल्पना 1960 के दशक में चर्चा में आई जब कैनेडियाई साहित्य के आलोचक मार्शल जोहान ने वैश्विक ग्राम शब्द को लोकप्रिय बनाया. भूमंडलीकरण की शरुआत भारत में सन 1991 में अपनाई गई नई आर्थिक नीति से हुई. इस नवउदारवादी व्यवस्था की आड़ में जल, जंगल और जमीन से जुड़ी आदिवासी जनता के अधिकारों का किस तरह हनन करके उसे हंसिये पर ढेकल दिया गया है इस तथ्य की जांच पड़ताल इस अध्याय के अंतर्गत की गई है. सदा से प्रकृति की गोद मे रहे आदिवासियों को बीते वर्षों में उत्खनन और वाइल्ड लाइफ प्रोटेक्शन के नाम पर असहाय बना दिया गया है. भू मंडलीकरण के इस दौर ने न केवल उन्हें यहां से वहां विस्थापित किया है बल्कि हमारे प्रकृति और पर्यावरण को भी बेतहाशा नुकसान पहुंचाया है. इससे उत्तपन्न 'पारिस्थितिकीय संकट' ने आदिवासियों के संघर्ष को कई गुना बढ़ा दिया है जिससे कि आज उनके 'अस्तित्त्व' पर ही संकट के बादल मंडराने लगें हैं. इस संकट का तत्काल उदाहरण है सन 2018 में केरल, महाराष्ट और कर्नाटक में आया भयंकर जलप्रलय. वनों की अंधाधुंध कटाई और जलवायु परिवर्तन इस भारी प्राकृतिक आपदा के कारण रहे हैं. इसी संदर्भ में पर्यावरण वैज्ञानिक डॉ एस विजयन का कहना है कि " केरल असल में मानव निर्मित त्रासदी का शिकार हुआ है. अगर पारिस्थितिक रूप से नाज़ुक इन पहाड़ी क्षेत्रों को संरक्षित करने के लिये

तैयार 'गाडगिल समिति' की रिपोर्ट को लागू किया गया होता तो इस त्रासदी को सीमित किया जा सकता था". अतः इसमें कोई संदेश नहीं है कि भू मंडलीकरण से उत्तपन्न पारिस्थितिकीय संकट से आदिवासियों के संघर्ष का दायरा और भी विस्तृत हो गया है.

अध्याय -2 आदिवासी समाज और हिंदी उपन्यासों की विकास यात्रा : इस अध्याय के अंतर्गत आदिवासी समाज को किस तरह से चित्रित किया गया है इसका अध्ययन- विश्लेषण किया गया है. इसमें यह भी देखने की कोशिश की गई है कि आदिवासी और आदिवासी लेखकों की आदिवासी समाज को देखने की दृष्टि में कोई अंतर है अथवा नहीं? क्या आदिवासी लेखक आदिवासी समुदाय के पैरोकार बन पाए हैं अथवा नहीं? . वैसे तो हिंदी के कई दिग्गजों ने आदिवासी जीवन और संस्कृति को आधार बनाकर अपने उपन्यासों की रचना की है. इन्होनें जल, जंगल और ज़मीन के लिये लड़ाई लड़ रहे आदिवासी समाज के जीवन को विभिन्न रूपों में चित्रित किया है. किन्तु हिंदी उपन्यासों में आदिवासी संबंधित विषयों पर लिखने की बहुत समृद्ध परंपरा नहीं रही है। समकालीन जनमत के आदिवासी विशेषांक के संपादकीय में रामजी राय लिखते हैं कि " जिसे राष्ट्रभाषा घोषित किया गया, उसी राष्ट्रभाषा हिन्दी में आदिवासियों की जिंदगी से सम्बंधित किताबें या साहित्य रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं, आश्चर्य है कि आदिवासियों के अंनत उत्पीडन और जुल्म के खिलाफ हिंदी साहित्य- संस्कृति में लंबे समय तक कहीं कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ती". स्पष्ट है कि विस्तार से आदिवासी जीवन को हिंदी साहित्य में उसकी पूरी समग्रता में स्थान नहीं मिला. आजादी के पश्चात जो आंचलिक उपन्यासों के रूप में उपेक्षित अंचलो की साहित्य में अभिव्यक्ति की परिपाटी शुरु हुई उसके फलस्वरूप आदिवासी जन- जीवन को भी हिंदी उपन्यासों में जगह मिलने लगी. इसी संदर्भ में गंगासहाय मीणा अपनी पुस्तक आदिवासी और हिंदी उपन्यास : अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष" में लिखते हैं कि " मैला आँचल में संथाल आदिवासियों की प्रस्तुति हिंदी साहित्य में

आदिवासी जीवन की प्रमुख आहट बनकर सामने आती है. रेणु ने संथालो का मुद्दा उठाते हुए उनकी निश्छल संघर्षशीलता का चित्र खींचा. ......'यह आजादी झूठी है, देश की जनता भूखी है'। यहां रेणु की पक्षधरता प्रशंसनीय है". कुछ लोग देवेंद्र सत्यार्थी के उपन्यास ' रथ के पहिये' (1952) को हिंदी का पहला आदिवासी केन्द्रित उपन्यास मानते हैं. मध्यप्रदेश के गोंड आदिवासी जनजीवन को रेखांकित करने वाले इस उपन्यास के बारे में गोपाल राय लिखते हैं -" कि ' रथ के पहिये' में पहली बार मध्यप्रदेश की गोंड जनजाति के जीवन का प्रामाणिक और संवेदना संचित अंकन हुआ है". इस प्रकार प्रथम आदिवासी उपन्यास कौन है और किसने लिखा है? इस पर मतभेद लंबे समय तक बना रहा. किन्तु अब अनुसंधानकर्ताओं द्वारा यह स्पष्ट होगया है कि सन 1899 में जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने ' बसंत मालती' नामक उपन्यास लिखा था जो मल्लाह आदिवासियों के जीवन पर आधारित है. सन 2013 में विकास प्रकाशन, कानपुर से डॉ रमेश संभाजी कुरे के संपादन में "आदिवासी साहित्य विविध आयाम" नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ जिसमें संगीता गोपाल राव और डॉ मालती शिंदे ने 'बसंत मालती' को हिंदी में लिखित प्रथम आदिवासी उपन्यास घोषित किया है. 'वांगमय' हिंदी पत्रिका (अक्टूबर 2013 - मार्च 2014) में प्रोफेसर बी.के कलासवा ने भी इसे प्रथम आदिवासी हिंदी उपन्यास कहा है.

अध्याय-3 हिंदी उपन्यासों में आदिवासी संघर्ष : राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संदर्भ

इस अध्याय के अंतर्गत आदिवासी संघर्ष के राजनीतिक, समाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि तथा इनके प्रभावों को समझने का प्रयास किया गया है. इसमें राजनीति संदर्भ के अंतर्गत आदिवासियों के राजनीतिक सवालों की छानबीन और राजनीतिक हक़ के लिये किये गए आंदोलनों का विश्लेषण तथा वर्तमान समय में इसकी स्थिति पर विचार किया गया है. साथ ही समाजिक और आर्थिक क्षेत्र में उनके समक्ष कौन सी चुनौतियां हैं उनको समझने की कोशिश की गई है. इसके अतिरिक्त आंतरिक या मानसिक स्तर पर वे किस संघर्ष से जूझ रहे हैं इसका

चित्रण भी हिंदी आदिवासी उपन्यासों के आधार पर किया गया है. क्योंकि शांत औऱ एकांत प्रिय रहने वाले आदिवासियों के जीवन में भूमंडलीकरण ने की नीतियों ने तबाही ला दी है और उनके संघर्षों का दायरा भी बढ़ गया है. किसी भी समुदाय का विकास बहुत हद तक उसकी उस क्षेत्र में राजनीतिक आर्थिक और समाजिक स्थिति पर निर्भर करता है. इसीलिए आज़ादी के पश्चात आदिवासियों के प्रतिनिधि जयपाल सिंह मुंडा ने संविधान सभा में यह मांग रखी थी कि "हम आदिवासी इस देश मूलनिवासी हैं. हमें अपनी स्वायत्तता चाहिये. हम नए भारत में आदिवासियों के लिये समतामूलक व्यहवार चाहते हैं". उस वक़्त के नेताओं ने आदिवासियों का समर्थन प्राप्त करने के लिये इस समतामूलक व्यवहार की वादे तो कर दिये लेकिन उन्हें पूरी ईमानदारी के साथ पूरे करने के प्रयास नहीं किये गए. मुख्यधारा की राजनीति के इस साजिश का पूरा कच्चा- चिट्ठा उपन्यासकार विनोद कुमार ने अपने उपन्यास 'समर शेष है' में खोल कर रख दिया है. यह उपन्यास शिबू सोरेन, ए. के रॉय औऱ विनोद बिहारी महतो के जनांदोलन पर लिखा गया उपन्यास है. इसमें महाजनों के खिलाफ आदिवासियों का संघर्ष दिखाया गया है. इसी संदर्भ में केदार नाथ मीणा लिखते हैं " मुख्यधारा का भारतीय समाज औऱ उनकी सरकारें इनका सबकुछ लूटती जा रही हैं. आदिवासी समुदाय लगातार विस्थापित होते जा रहे हैं, उनके समाजिक मूल्य उपहास की वस्तु बनाए जा रहे हैं . उनकी राजनीतिक नेतृत्व को उतना ही पनपने दिया जा रहा जितने से मुख्यधारा की राजनीति को कोई दिक्कत न हो". वर्तमान समय में पलायन की समस्या, विस्थापन की समस्या आदिवासियों की मुख्य समस्या बनकर उभरे हैं. क्योंकि तथाकथित मुख्यधारा के समाज ने आदिवासियों को हंशिये पर ही रखा है. राजनीतिक और आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण समाजिक स्तर पर भी उन्हें तरह-तरह की भ्रांतियों का शिकार होना पड़ रहा है और आज भी उन्हें 'अजूबे' की तरह देखा जाता है उन्हें वनवासी या जंगली जैसे नामों से अभिहित किया जाता है. इस अध्याय के अंतर्गत इन सारी समस्याओं की गहराई से जांच - पड़ताल हिंदी उपन्यासों के आधार पर की गई है.

अध्याय-4 आदिवासी समाज, पारिस्थितकीय संकट और हिंदी उपन्यास

इस अध्याय के अंतर्गत 'पर्यावरण विमर्श' की अवधारणा और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इससे उत्तपन्न संकटों के संदर्भ में आदिवासी समाज के संघर्षों का अध्ययन विश्लेषण किया गया है. आज विश्व के सामने पर्यावरण संकट विकराल रूप धारण करता जा रहा है. ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु परिवर्तन की घटनाओं ने हमारा ध्यान इस संकट के कारणों की ओर खींचा है. इसी संदर्भ में फ्रेडरिक ऐंगल्स ने अपनी पुस्तक 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर' में विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विकास के साथ प्रकृति से बड़े पैमाने पर छेड़खानी करने की पूंजीवादी प्रवृत्ति के दुष्परिणामों के प्रति चेताते हुए लिखते हैं " प्रकृति पर मनुष्य की विजय को लेकर ज्यादा खुश होने की जरूरत नहीं, क्योंकि ऐसी हर जीत हमसे अपना बदला लेती है..... हम प्रकृति पर इस तरह शासन नहीं कर सकते जैसे हम उसके बाहर खड़े हो, क्योंकि मांस, रक्त और मस्तिष्क सहित प्रकृति से जुड़े हुए हैं और उसी के बीच हमारा अस्तित्व है". किन्तु 'विकास' के नाम पर प्रकृति का दोहन आज भी बदस्तूर जारी है, ज्यादा कृषि भूमि पाने की ललक में वनों की अंधाधुंध कटाई, नदियों की गति और दिशा में मनमाना परिवर्तन, मिट्टी में क्रमशः विकसित होती अनुर्वरता और उसे अधिक उपजाऊ बनाने के हड़बड़ी में रासायनिक खादों का बेशुमार प्रयोग, शहरीकरण, खनिज उत्खनन के नाम पर प्रकृति का जरूरत से ज्यादा दोहन, पर्यावरण प्रदूषण, मौसम में परिवर्तन, समुद्र का अम्लीकरण, ओज़ोन परत का क्षय और जैव- विविधता का क्रमिक ह्रास मनुष्य के सभ्य होते चले जाने का बर्बर इतिहास है. आज पूंजीवाद समाज केवल अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये अपने हित का पोषण हंशिये पर स्थिति दूसरे समुदायों के अस्तित्व की कीमत पर करने में लगा है. विशेषकर की आदिवासी समुदाय की कीमत पर . लेकिन क्या किसी खास समुदाय का 'होना' कोई निरपेक्ष सिद्धांत है? जबकि इल्बर्ट आइंस्टाइन ने 1905 में ही ' सापेक्षतावाद' के सिद्धांत के द्वारा यह बता दिया था कि समूची सृष्टि ही सापेक्षता के सम्बंध में बंधी हुई है.

इसी संदर्भ में रोहणी अग्रवाल लिखती हैं "सृष्टि की संरचना ही कुछ ऐसी है कि इसका प्रत्येक अणु स्वायत होते हुए भी अपने अस्तित्व रक्षण के लिए दूसरे के अस्तित्व की अनिवार्यता से जुड़ा हुआ है. उदाहरण के लिये 'फूड वेब' को लिया जा सकता है. जहां कहीं

एक भी कड़ी टूटी या ढीली पड़ी, वहीं प्राकृतिक कोप चेतावनी बन कर मनुष्य की निरंकुश वृति पर चोट करने लगता है". पारिस्थितिकीय विमर्श दरअसल प्रकृति की इन्ही चेतावनियों को सुन कर मनुष्य की निरंकुश वृति पर चोट करने लगता है. इस अध्याय में हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज के इस संघर्ष को किस प्रकार चित्रित किया गया है इसका आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है. इसी संदर्भ में वीरेंद्र जैन का 'डूब' उपन्यास उल्लेखनीय है. उपन्यास का पात्र 'माते' अपने गांव को डूबने से बचाना चाहता है. इस उपन्यास में आदिवासी समाज के लोगों के दुख दर्द को पूरी प्रमाणिकता के साथ वीरेन्द्र जैन ने चित्रित किया है. इसी प्रकार कथाकार संजीव द्वारा सन 1986 में लिखित 'सावधान नीचे आग है' उपन्यास झारखंड, बंगाल एवं बिहार के कोयलांचल क्षेत्र में काम करने वाले आदिवासी मजदूरों पर लिखा गया है जिसमें आदिवासी समाज का त्रासदीपूर्ण जीवन वर्णित है. झरिया का वर्णन करते हुए संजीव लिखते हैं -"आग की नदी दामोदर और धुआँसे का शहर झरिया! कुहासा नहीं, धुआँसा! धूल, धुंआ और कुहासा- इसे मिलकर एक शब्द बनता है धुआँसा. इसी धुआँसे के जाल में उलझे तारों की झिलमिलाहट लिये जल रही हैं, दूर-दूर बतियां!...हार्ड कोक प्लांट की दैत्यमुखी ज्वाला की कतारें!" इस उपन्यास में औद्योगिकरण और पारिस्थितकीय संकट की मार झेल रहे इस क्षेत्र की आदिवासियों की करुण कहानी है. इस उपन्यास में दिखाया गया है कि किस प्रकार प्रदूषण अपने उच्चतम स्तर पर आदिवासी जनता की स्वास्थ्य को बेतहासा नुकसान पहुंचा रहा है और किस प्रकार विकास की आड़ में सरकारें और कॉरपोरेट जगत अपना मुनाफ़ा देख रहें है, कैसे पर्यावरण नष्ट हो रहा है और आदिवासी समुदाय का आर्थिक जीवन भी. अतः देश मे विकास के नाम पर पर्यावरण से कैसा खिलवाड़ हो रहा है और उसका खामियाजा किस प्रकार एक ख़ास समुदाय को अपना 'अस्तित्व' और 'जीविका' खोकर, अपने प्राकृतिक वातावरण से दूर कहीं और विस्थापित होकर चुकाना पड़ रहा है इसका मूल्यांकन इस अध्याय के अंतर्गत किया गया है.

अध्याय-5 आदिवासी समाज, हिंदी उपन्यास और उनका शिल्प-विधान

इस अध्याय के अंतर्गत हिंदी आदिवासी उपन्यासों के भाषा-शिल्प का तुलनात्मक अध्ययन-

विश्लेषण किया गया है तथा उनमें आदिवासी तत्वों की पहचान करते हुए उपन्यासकारों की विशिष्ट भाषा-शैली को भी रेखांकित किया गया है. नए समीक्षा के मापदंडों के अनुसार आज पाठ को मात्र पाठ, लेखक तथा पाठक के अंतर्संबंधों की दृष्टि से नहीं बल्कि पाठ जिस तरह लिखा गया है उसे किस तरह पढ़ा गया है अथवा उसे किस तरह पढा जाना चाहिये इन सभी बिंदुओ को समेटा जाता है. इन बिंदुओं को ध्यान में रखते हुए भी आदिवासी की हंशिये की स्थिति को देखते हुए आदिवासी हिंदी उपन्यासों को पंरपरागत भाषाशास्त्रीय सुद्धान्तों पर कसना उचित नहीं होगा. इसी सन्दर्भ में उपन्यासकार विनोद कुमार लिखते हैं कि "झारखंड में आदिवासी लेखकों की एक नई पौध आई है. बहुत दिनों तक यह कश्मकश रही कि आदिवासी लेखक अपने लेखन में किस भाषा का प्रयोग करें. वे अपनी भाषा में तो लिखते ही हैं, लेकिन धीरे—धीरे उन्होंने हिंदी को भी अंगीकार किया. इससे एक ठहराव की स्थिति में पहुंच गये हिंदी साहित्य को नया भावबोध, नये किस्म की भाषा, नया शिल्प विन्यास,बिंब आदि मिले हैं....आदिवासी साहित्य और साहित्यकारों की खूबी यह है कि वे सिर्फ निरे साहित्यकार नहीं, यानी 'कला के लिए कला' के पुरोधा नहीं, अपने सुख के लिए ही नहीं लिखते, वे अपनी जमीन से गहरे जुड़े हैं और उनमें बदलाव की एक गहरी तड़प है. वे आंदोलनकारी है, समाजकर्मी है". इस कारण ही इन उपन्यासों की भाषा अधिक लोकतांत्रिक और समसमायिक है.

निष्कर्ष: प्रस्तुत शोध में हिंदी आदिवासी उपन्यास पंरपरा में आदिवासी समाज और संस्कृति की अवधारणा एवं स्वरूप को स्पष्ट करते हुऐ उनके साहित्यिक अवदान एवं दर्शन के महत्व को स्थापित किया गया है. इन आदिवासी हिंदी उपन्यासों में आदिवासी समाज को संपूर्ण रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है, जिससे आदिवासी-विमर्श की एक सशक्त भूमि तैयार होती है.

समकालीन मुद्दों, चुनौतियों और वैश्विक घटनाओं के प्रति सचेत इन उपन्यासकारों

ने आदिवासी जीवन दर्शन को हिंदी साहित्य की परंपरा में एक नए आयाम के रूप में जोड़ा है तथा आदिवासी समाज के प्रति एक मौलिक दृष्टि का परिचय भी दिया है. इतिहास और साहित्य में सदियों से चले आ रहे आदिवासी समाज और साहित्य के प्रति उपेक्षापूर्ण नजरिये का इन उपन्यासों में रचनात्मक प्रतिरोध दिखाई देता है. विश्व की सबसे बड़े प्रजातंत्र में आदिवासी समुदाय के अधिकारों के प्रति सजग उपन्यासकारों ने आदिवासियों के मौखिक , अलिखित एवं अवर्णित ऐतिहासिक-सामाजिक विरासत को पहचान दिया है. आदिवासी हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन के उन प्रत्येक पहलुओं पर विचार- विमर्श मिलता है जिन्होंने आदिवासी जन को एक 'मानव' होने की गरिमा से वंचित किया है तथा उन्हें हाशिये पर जाने के लिये विवश कर दिया है. किन्तु शिक्षा के प्रचार-प्रसार और वैज्ञानिक चिन्तनों से प्रभावित हो रही आदिवासी जनता किस प्रकार अपने 'अस्तित्व' की पहचान करते हुए अपने हक़ की लड़ाई लड़ने को लामबन्द हो रही है इसका यथार्थ चित्रण इन उपन्यासों में मिलता है. इतिहास में आदिवासी समाज की दर्शन, संस्कृति और सभ्यता की मुख्यधारा के लाभ हेतु आभिजात्यवादी व्याख्या ही कि गयी है तथा उनके आंदोलन को मुख्यधारा के अभिजात्यवादी इतिहासकारों एवं साहित्यकारों ने कभी उचित स्थान नहीं दिया है. उनके समुदाय, साहित्य और संस्कृति का वे उपहास बनाते दिखते हैं. उनके अस्तित्व को नष्ट करने की साजिश के तहत ही उन्हें असुर और राक्षस जैसे नामों से अभिहित किया गया है. इतिहासकारों एवं मनावशास्त्रियों ने आदिवासी समुदाय पर गहन अध्ययन किया है एवं वे मानते की आदिवासी सभ्यता एवं संस्कृति को बहुत ही रंगीन दिखा कर उन्हें मनोरंजन की कोई वस्तु की तरह 'रोमांचक' ढंग से चित्रित किया गया है. लेकिन हिंदी के अनेक आदिवासी एवं गैर-आदिवासी उपन्यासकार इस समुदाय के अधिकारों की लड़ाई

के प्रति दृढ़संकल्प नज़र आते हैं. साथ ही साहित्य में 'अनुभूति बनाम सहानुभूति' का मुद्दा हमेशा से केंद्र में रहा है. आदिवासी विमर्श भी इससे अछूता नहीं है. मेरा मानना है कि यदि किसी रचनाकार में 'समानुभूति' की क्षमता है तो उसे केवल इसलिए किसी खास समुदाय के हित में अपनी कलम उठाने से वंचित नहीं कर सकते कि वह उस समुदाय विशेष से नहीं आता है. इन लेखकों में रणेंद्र, रमणिका गुप्ता संजीव, विनोद कुमार ,वीरेंद्र जैन शामिल हैं जिन्होंने हिंदी उपन्यास की साहित्य धारा को आदिवासी जनजीवन और संस्कृति-सभ्यता से जोड़ कर हिंदी उपन्यासों को समृद्ध किया है. ये रचनाकार उनके समाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों को पूरी ईमानदारी से रखते हुए उनके अधिकारों की लड़ाई में पूर्णतः साथ खड़े नजर आते हैं. आज के बदलते परिप्रेक्ष्य में आदिवासियों के संघर्ष का दायरा भी बढ़ता हुआ 'पारिस्थितिकीय संकट' तक जा पहुंचा है और अब आदिवासी समाज चौतरफ़ा संकटो से घिरा हुआ है. हिंदी आदिवासी उपन्यासों में उनके संघर्ष के इस आयाम को भी ईमानदारी से चित्रित करने का प्रयास किया गया है, चाहें वह वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'डूब' हो या 'पार', संजीव का उपन्यास 'सावधान नीचे आग है' हो या महुआ माजी का उपन्यास 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ'. इनसभी उपन्यासों में पूंजीवादी व्यवस्था और मुख्यधारा की सरकारों की सांठगांठ को उजागर करते हुए 'विकास बनाम विनाश' की अवधारणा को प्रतिपादित किया गया है जिसने आदिवासी समुदाय को उनके अस्तित्व के संघर्ष और अपने पारिस्थिकी को बचाने के लिये संघर्ष के प्रति जागरूक करने का कार्य किया है. इसी जागरूकता का परिणाम है आज केरल में चल रहा 'सिल्वर लाइन प्रोजेक्ट' का विद्रोह जिसमें न केवल 30000 परिवारों को विस्थापित होने

के लिये बाध्य होना पड़ेगा बल्कि यह प्रोजेक्ट वहां पर्यावरण संकट भी उतपन्न करेगा. इसी तरह के विरोधों को हम देश के दूसरे हिस्सों में भी देख रहे हैं . अतः इसमें संदेह नहीं कि आदिवासी हिंदी उपन्यासों ने आदिवासी जनजीवन को समग्रता से चित्रित करते हुऐ उन्हें उनके 'अस्तित्व और अस्मिता' जो कि 'प्रकृति' पर निर्भर है, की रक्षा हेतु संघर्ष के लिये प्रेरित किया है.

आधार ग्रन्थ :

1)संजीव(1990),धार, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

2)जैन,वीरेंद्र(1991), डूब, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली

3)जैन,वीरेंद्र(1998), पार, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली

4)संजीव(2002),सावधान नीचे आग है, राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली

5)जोशी,नवीन(2008), दावानल, सामयिक प्रकाशन,नई दिल्ली

6)रणेंद्र(2009), ग्लोबल गांव का देवता, भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली

7)माझी,महुआ(2012),मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

8)रणेंद्र(2014), गायब होता देश, पेंगुइन बुक्स,नई दिल्ली

9)सिंह,राकेश कुमार(2015), महारण्य में गिद्ध,भारतीय ज्ञानपीठ,नई दिल्ली

10) सुबीर, पंकज(2016), अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन,मध्य प्रदेश

संदर्भ-ग्रन्थ सूची:-

1)शर्मा, डी. डी, गुप्ता, एम.एल(1981), समकालीन भारत की सामाजिक समस्याएं, द्वितीय संस्करण, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

2)शर्मा, सुभाष(2016), पर्यावरण और विकास,प्रथम संस्करण,सूचना और प्रसारण मंत्रालय,नई दिल्ली

3)मिश्र, अनुपम(2013),चिपको आंदोलन, प्रथम संस्करण,गांधी शांति प्रतिष्ठान,नई दिल्ली

4)महात्मा गांधी(1909), हिन्द स्वराज

5)गुहा,रामचंद्र(1989),द अनक्वायट वुड्स : इकोलॉजिकल चेंज एंड पीजेंट रेजिस्टेंस इन द हिमालया,प्रथम संस्करण, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस,नई दिल्ली

6)विजयलक्ष्मी, डॉ एलांगबम(2006), समकालीन हिंदी उपन्यास: समय से साक्षात्कार, प्रथम संस्करण,राधाकृष्ण प्रकाशन

7)आहूजा, राम(2016), सामायिक समस्याएं, तृतीय संस्करण, रावत प्रकाशन,जयपुर

8)अग्रवाल,अनिल, नारायण, सुनीता(सम्पादक) (1988), हमारा पर्यावरण, गांधी शांति प्रतिष्ठान,नई दिल्ली

9)मकल्ली,पेट्रिक(1998), साइलेंस्ड रिवर्स: द इकोलॉजी एंड पॉलिटिक्स ऑफ लार्ज डेम्स, ओरिएंट लॉन्गमैन,हैदराबाद

10)देवी, महाश्वेता(2008), जंगल के दावेदार, राधा कृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएं:-

1)नारायण, सुनीता(सम्पादक),डाउन टू अर्थ

2)पाठक,गजेंद्र, रौशन,डॉ अभिषेक(संपादकीय),अपनी माटी(ई-पत्रिका),किसान विशेषांक, अंक 25,अप्रैल-सितंबर,2017

3)यादव, रामजी(संपादक), गांव के लोग,अंक 11, नवंबर-दिसंबर, 2018

4) गुप्ता, रमणीका (संपादक) युद्धरत आम आदमी